Shodhaamrit, Vol.-1; Issue-2 (July-December) 2024 : Page No.-158-164

शोधामृत

(कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की अर्धवार्षिक, सहकर्मी समीक्षित, मूल्यांकित शोध पत्रिका)

ISSN : 3048-9296 (Online)
3049-2890 (Print)
Vol.-1; issue-2 (July-Dec.) 2024
Page No- 158-164

©2024 Shodhaamrit (Online)
www.shodhaamrit.gyanvividha.com

Dr. Sumit kumar
sr. Assistant professor,
Department of philosophy, S.M. College, Bhagalpur, TMBU.

Corresponding Author :
Dr. Sumit kumar
sr. Assistant professor,
Department of philosophy, S.M. College, Bhagalpur, TMBU.

सोशल मीडिया और पहचान का विघटन : आत्म की समकालीन दार्शनिक समस्या

सारांश : समकालीन डिजिटल युग में सोशल मीडिया मनुष्य की आत्म-परिभाषा और पहचान को नए तरीक़ों से प्रभावित कर रहा है। इस शोध पत्र में सोशल मीडिया के परिणामस्वरूप होने वाले पहचान के विघटन को एक दार्शनिक समस्या के रूप में विश्लेषित किया गया है। पश्चिमी दार्शनिक चिंतन – विशेषकर जां बौद्रियार की **हाइपररीयलिटी** की अवधारणा और मिशेल फूको के **पैनऑप्टिकॉन** (सर्वदृश्य निगरानी) सिद्धांत – से पता चलता है कि आभासी संसार में वास्तविकता और आत्म की धारणा धुंधली होती जा रही है। सोशल मीडिया पर व्यक्ति कृत्रिम या आदर्शीकृत छवियाँ प्रस्तुत करते हैं, जिनसे प्रामाणिक स्व का क्षय होने लगता है। उधर भारतीय दर्शन में आदिकाल से आत्म और माया पर व्यापक विमर्श मिलता है। **उपनिषदों** में प्रतिपादित आत्मतत्व की अवधारणा और माया का सिद्धांत आधुनिक सोशल मीडिया जनित अवस्थाओं के संदर्भ में चौंकाने वाली प्रासंगिकता दिखाते हैं। उदाहरण के लिए, अद्वैत वेदांत का सूत्र "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" यह दर्शाता है कि अंतिम सत्य आत्मिक है और परिवर्तनशील जगत (या आभासी पहचानें) मिथ्या हैं। इसी प्रकार बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद (नो-सेल्फ) ने हमेशा चेताया है कि अस्थायी तत्वों को आत्म मानने से दुःख होता है। पश्चिमी एवं भारतीय दार्शनिक दृष्टिकोणों की तुलनात्मक चर्चा से स्पष्ट होता है कि सोशल मीडिया पर निर्मित छवियाँ और मल्टीमीडिया स्वरूप व्यक्ति की आत्म-छवि को खंडित कर रहे हैं। इस चर्चा में प्राचीन भारतीय ज्ञान और आधुनिक पश्चिमी सिद्धांतों के सेतुबंध से समाधान की संभावनाएँ खोजी गई हैं। निष्कर्षतः, डिजिटल युग में आत्म की समस्या का समाधान प्रामाणिकता की ओर लौटने, आत्म-ज्ञान और तकनीक के विवेकपूर्ण उपयोग में निहित है।

मुख्य शब्द : सोशल मीडिया, पहचान, आत्म, विघटन, हाइपररीयलिटी, पैनऑप्टिकॉन, माया, प्रामाणिकता।

1. परिचय : आज के डिजिटल युग में **सोशल मीडिया** व्यक्ति के जीवन

का अभिन्न अंग बन चुका है। फेसबुक, ट्विटर, इंस्टाग्राम जैसे प्लेटफ़ॉर्मों पर लोग स्वयं की छवि प्रस्तुत करते हैं, विचार व्यक्त करते हैं और सामाजिक अनुमोदन (लाइक्स, कमेंट्स) प्राप्त करते हैं। इन आभासी गतिविधियों का व्यक्ति की **पहचान** पर गहरा प्रभाव पड़ रहा है। एक ओर सोशल मीडिया ने अभिव्यक्ति के नए साधन दिए हैं, वहीं दूसरी ओर इसने एक ऐसी परिस्थिति पैदा की है जिसमें व्यक्ति की आत्म-छवि विकृत और विखंडित हो सकती है। **पहचान का विघटन** एक समकालीन दार्शनिक समस्या के रूप में उभर रहा है – व्यक्ति यह महसूस कर रहा है कि ऑनलाइन दुनिया में उसका स्वरूप वास्तविक स्वयं से भिन्न या दूर होता जा रहा है। प्रश्न उठता है: क्या सोशल मीडिया पर प्रस्तुत "मैं" वास्तविक मैं को प्रतिबिंबित करता है, अथवा यह मात्र एक **आभासी मुखौटा** है? यह समस्या दर्शनशास्त्र में आत्म और प्रतीति के अंतर से जुड़ी हुई है। आत्म की अवधारणा पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि सोशल मीडिया के प्रसार ने वास्तविक और आभासी के बीच की रेखा को चुनौती दी है।

दार्शनिक दृष्टि से देखें तो यह समस्या कई आयाम समेटे हुए है। **पश्चिमी दार्शनिक** परंपरा में हाल के दशकों में उत्तराधुनिक विचारकों ने वास्तविकता, छवि और पहचान के क्षरण पर गंभीर चिंतन किया है। जां बौद्रियार, मिशेल फूको, गाइ डिबोर्ड जैसे विचारकों ने बताया कि आधुनिक समाज में किस प्रकार मनुष्य की अनुभूति और सामाजिक अनुभव माध्यमों द्वारा निर्मित छवियों के अधीन हो गए हैं। दूसरी ओर, **भारतीय दर्शन** में आत्म की अवधारणा प्राचीन काल से ही केंद्र में रही है – उपनिषदों, भगवद्गीता, बौद्ध एवं योग परंपरा ने आत्म-अन्वेषण, माया (भ्रामक जगत) और प्रामाणिक स्वभाव पर विस्तृत दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं। यह शोध पत्र इन दोनों धाराओं को एक मंच पर लाते हुए पड़ताल करेगा कि सोशल मीडिया युग में आत्म और पहचान के विघटन को कैसे समझा जाए। साथ ही, यह भी जांचा जाएगा कि भारतीय दार्शनिक विरासत और पश्चिमी सिद्धांत मिलकर इस चुनौती का सामना करने में कैसे सहायक हो सकते हैं।

2. सोशल मीडिया, आत्म और पहचान का विघटन : सोशल मीडिया पर व्यक्ति **प्रदर्शनकारी पहचान** अपनाता है – एक ऐसी छवि जिसे समाज द्वारा स्वीकार्यता मिले। रोज़मर्रा के जीवन में भी लोग अलग-अलग संदर्भों में विभिन्न पहचानों को अपनाते हैं, किंतु सोशल मीडिया ने इसे अभूतपूर्व स्तर पर पहुँचा दिया है। ऑनलाइन प्रोफाइल के माध्यम से स्वयं को ब्रांड की तरह प्रस्तुत करना आम बात हो गई है। फ़िल्टर किये हुए चित्र, चुने हुए जीवन-क्षण और चित्ताकर्षक कथनों के ज़रिए एक **आदर्शीकृत आत्म** रचा जाता है। यह आदर्श छवि वास्तविक व्यक्तित्व से कई बार भिन्न होती है, जिसके चलते व्यक्ति के भीतर एक द्वैत या विभाजन उत्पन्न होता है – ऑनलाइन पहचान बनाम वास्तविक पहचान। शोध से संकेत मिला है कि सोशल मीडिया का अति प्रयोग किशोरों और युवाओं में चिंता, अवसाद तथा आत्म-मूल्य में कमी से जुड़ा है (सोशल मीडिया द्वारा आत्म-मूल्य निर्धारण पर अध्ययन, दृष्टि आईएएस) – ये प्रभाव आभासी छवि और वास्तविक स्व के बीच तनाव के द्योतक हैं।

एक अहम पहलू है **प्रामाणिकता का क्षय**। सोशल मीडिया पर निरंतर मौजूदगी बनाए रखने का दबाव रहता है; लोग स्वीकार्यता पाने हेतु स्वयं को लोकप्रिय प्रवृत्तियों के अनुरूप ढालते हैं। इससे मौलिक पहचान धूमिल हो सकती है। मनोवैज्ञानिक शेरी टर्कल ने नोट किया है कि इंटरनेट युग ने लोगों को अनेक पहचानें आज़माने का अवसर दिया, जिससे स्व की धारणा बहुविभाजित हो गई है (तुर्कले, 1995)। वे बताती हैं कि ऑनलाइन मंचों पर व्यक्ति एक साथ कई अवतार लेकर अलग-अलग भूमिकाएँ निभाता है, मानो उसके अंदर कई आत्माएं निवास करती हों (तुर्कले, 1995)। केनेथ गेरगेन ने आधुनिक अवस्था को "**सैचुरेटेड स्वयं**" कहा – संचार तकनीकों और संबंधों की भरमार से आत्म बिखरकर **मल्टिफ्रेनिक** स्थिति में पहुँच गया

है, जहाँ असंख्य आवाज़ें और पात्र व्यक्ति के मानस में सक्रिय हैं (गर्जेन, 1991)। नतीजन, यह स्पष्ट होता है कि सोशल मीडिया व्यक्ति की पारंपरिक इकहरी आत्म-छवि को खंडित कर एक जटिल बहुस्तरीय पहचान संरचना निर्मित कर रहा है। ऐसी पहचान सतही पुष्टि पर निर्भर रहने लगती है, जिससे आत्म का आंतरिक बल क्षीण होने की आशंका रहती है।

सोशल मीडिया ने **संदर्भों का धुंधलापन** भी पैदा किया है – व्यक्तिगत, व्यावसायिक, सामाजिक सभी प्रकार के मेल-जोल का समागम एक ही ऑनलाइन मंच पर हो जाता है। व्यक्ति एक ही प्रोफ़ाइल के माध्यम से परिवार, सहकर्मी, मित्र सभी से संवाद करता है, परिणामस्वरूप उसे अपनी प्रस्तुति के स्वर को संतुलित करते हुए सर्वस्वीकार्य व्यक्तित्व गढ़ना पड़ता है। इस प्रक्रिया में वह अलग-अलग भूमिकाओं के बीच बंट जाता है। उदाहरण के लिए, एक शिक्षक ऑफ़लाइन कक्षा में अनुशासक की भूमिका निभाता है, पर वही शिक्षक सोशल मीडिया पर अपने छात्रों और मित्रों के सामने एक विनोदी या मुक्त व्यक्तित्व प्रदर्शित करने का प्रयत्न कर सकता है – इन बहुआयामी अपेक्षाओं के बीच वास्तविक आत्म क्या है, यह धुंधला हो सकता है (गोफ़मैन, 1959)। गोफ़मैन ने दैनिक जीवन को एक रंगमंच कहा था जहाँ हम अलग-अलग मुखौटे पहनते हैं (गोफ़मैन, 1959) – सोशल मीडिया ने इस रंगमंच को वैश्विक मंच में बदल दिया है जहां हर समय "दर्शक" उपस्थित रहते हैं।

कुल मिलाकर, सोशल मीडिया के प्रभाव से उत्पन्न यह पहचान संकट दार्शनिक दृष्टि से वास्तविकता और प्रतीति के बीच संबंध, प्रामाणिकता, आत्म-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता बनाम समाज के दबाव जैसे प्रश्नों को उजागर करता है। अगले अनुभागों में हम इन प्रश्नों की जड़ तक पहुँचने के लिए पश्चिमी और भारतीय दर्शन में दिए गए उत्तरों की पड़ताल करेंगे।

3. पश्चिमी दार्शनिक दृष्टिकोण: हाइपररीयलिटी, निगरानी और आत्म : जां बौद्रियार और **गाइ डिबोर्ड** जैसे विचारकों ने आधुनिक समाज को "छवियों के समाज" के रूप में वर्णित किया है। गाइ डिबोर्ड ने 1967 में लिखा था: "पूर्व में जो कुछ प्रत्यक्ष रूप से जीवित था, वह अब मात्र प्रतिनिधित्व बनकर रह गया है।" (डेबॉर्ड, 1967)। इस "स्पेक्टेकल" के समाज में वास्तविक जीवन के अनुभव मीडिया द्वारा निर्मित छवियों में तब्दील हो जाते हैं। बौद्रियार इस विश्लेषण को आगे बढ़ाते हुए **हाइपररीयलिटी** का सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् एक ऐसी अवास्तविक वास्तविकता जिसमें प्रतीक और छवियाँ वास्तविकता से अधिक प्रभावशाली हो जाती हैं (बॉड्रिलार्ड, 1994)। उनके अनुसार उपभोक्तावादी आधुनिक संस्कृति में वास्तविक और आभासी का भेद मिट जाता है; हम ऐसी दुनिया में जीते हैं जहाँ प्रतिरूप ने मूल वास्तविकता का स्थान ले लिया है (बॉड्रिलार्ड, 1994)। सोशल मीडिया इसका ज्वलंत उदाहरण है: यहाँ प्रदर्शित जीवन अक्सर वास्तविक अनुभवों से अलग एक कृत्रिम यथार्थ होता है। इंस्टाग्राम फ़िल्टर, सुगठित प्रोफ़ाइल और चुने हुए "खुश" पल एक हाइपर-यथार्थ रचते हैं, जिसमें जीवन की असंगतियाँ गायब कर दी जाती हैं। व्यक्ति आत्म-प्रस्तुति के इस खेल में इतना लिप्त हो सकता है कि वास्तविक भावनाओं और ऑनलाइन छवि का अंतर धुंधला पड़ जाए। बौद्रियार के शब्दों में, यह "चिह्नों का पूर्वगामी जुलूस" है। प्रतिरूप वास्तविकता से पहले चलते हैं और अनुभवों को निर्धारिगत करने लगते हैं। लाइक्स और फ़ॉलोअर्स जैसे संकेतकों के आधार पर व्यक्ति अपने मूल्य का आकलन करने लगता है; यह उपभोक्तावादी बाह्य सत्यापन की संस्कृति है, जहाँ ध्यान का आदान-प्रदान वस्तुओं के आदान-प्रदान की तरह होता है। परिणामस्वरूप, आत्म की आंतरिक स्थिरता का ह्रास और एक आभासी आत्म का उदय होता है। एक छायाछवि, जिसे मानवीय संवेदनाओं से काटकर प्रदर्शन हेतु गढ़ा गया है।

इसी संदर्भ में मिशेल फूको का **पैनऑप्टिकॉन** सिद्धांत अत्यंत प्रासंगिक हो उठता है। फूको ने जेरमी बेंथम के कारागार रूपक का उपयोग सर्वव्यापी निगरानी और अनुशासन के तंत्र

को समझाने के लिए किया था (फ़ूको, 1977)। वे लिखते हैं: "पैनऑप्टिकॉन का मुख्य प्रभाव यह है कि क़ैदी में सतत सचेत और स्थायी दृश्यमानता की अवस्था पैदा कर दी जाए, जो सत्ता के स्वतः क्रियान्वयन को सुनिश्चित करे।" (फ़ूको, 1977, पी.201)। अर्थात "देखे जाने की संभावना" मात्र से व्यक्ति स्वयं को अनुशासित करने लगता है। आज सोशल मीडिया एक डिजिटल पैनऑप्टिकॉन बन चुका है: हर पोस्ट सार्वजनिक निगाह के दायरे में है, और यह भावना पैठ जाती है कि कोई न कोई हमें देख रहा है। इसलिए लोग अपने करियर/छवि की चिंता में स्व-सेंसरशिप अपनाते हैं। फूको के शब्दों में: "जो व्यक्ति निगरानी के क्षेत्र में अधीन होता है, वह सत्ता के बंधनों को स्वयं ग्रहण कर लेता है; वह अपनी अधीनता का स्रोत स्वयं बन जाता है।" (फ़ूको, 1977)।

इस प्रक्रिया को "निगरानी पूँजीवाद" के रूप में भी समझा गया है जहाँ हर क्लिक, पसंद और क्रिया पर नज़र रखकर पहचान को दिशानिर्देशित किया जाता है (ज़ूबॉफ़, 2019)। समग्रतः, पश्चिमी दार्शनिक दृष्टिकोण सोशल मीडिया को ऐसी माया मानते हैं जहाँ छवियाँ वास्तविकता का स्थान ले लेती हैं और व्यक्ति निगरानी व सतही अनुमोदन के दबाव में अपने स्वत्व से विमुख होने लगता है यही आत्म-विक्षेप या पहचान-विघटन का संकट है।

4. भारतीय दार्शनिक दृष्टिकोण: आत्म, माया और सामाजिक पहचान : भारतीय दर्शन में प्राचीन काल से ही "मैं कौन हूँ?" प्रश्न केंद्रीय रहा है। यहाँ आत्म (स्व) को समझने के लिए गहन दार्शनिक मंथन मिलता है। भारतीय चिंतन के अनुसार हमारी आम पहचान नाम, रूप, सामाजिक भूमिका, विचार इत्यादि आत्म का पूर्ण सत्य नहीं है, बल्कि आत्म का एक सीमित प्रक्षेपण है। उपनिषदों का दर्शन उद्घाटित करता है कि वास्तविक आत्म विश्वात्मा (ब्रह्म) के साथ अभिन्न है, और जो भेद दिखाई देता है वह अज्ञानजनित है। छान्दोग्य उपनिषद् में ऋषि उद्दालक श्वेतकेतु से कहते हैं: "तत्त्वमसि" तू वही (ब्रह्म) है (छान्दोग्य उपनिषद, 6.8.7)। यह महावाक्य प्रतिपादित करता है कि प्रत्येक व्यक्ति का वास्तविक अस्तित्व परम सत्य से एकत्व रखता है। हमारी भौतिक-सामाजिक पहचान तो सतही लहरें हैं; गहरे में आत्म रूपी सागर एक ही है। बृहदारण्यक उपनिषद् में यह अनुभूति "अहम् ब्रह्मास्मि" (मैं ब्रह्म हूँ) के रूप में प्रकट होती है (बृहदारण्यक उपनिषद, 1.4.10)। यहाँ 'मैं' उस शाश्वत आत्म का बोध कराता है जो शारीरिक-मानसिक पहचानों के परिवर्तन से अप्रभावित रहता है। इन महावाक्यों का निहितार्थ है कि व्यक्ति यदि देह, मन, जाति, पद, ऑनलाइन प्रोफ़ाइल जैसी मिथ्या पहचानों से ऊपर उठकर आत्मतत्व को पहचान ले, तो उसे अखंड वास्तविक पहचान का बोध होगा। यही वेदांत का लक्ष्य (आत्म-साक्षात्कार) रहा है।

भारतीय दर्शन में **माया** की अवधारणा भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अद्वैत वेदांत में आदि शंकराचार्य के अनुसार जगत ब्रह्म की माया से उत्पन्न प्रतीत होता है; इसका अस्तित्व अनुभूतिगत है, परम वास्तविक नहीं। शंकर का सूत्र "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः" बताता है कि ब्रह्म ही सत्य है, जगत मिथ्या (आपेक्षिक/भ्रामक) है, और जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं। यहाँ मिथ्या का अर्थ न पूर्ण असत्, न पूर्ण सत्य, बल्कि मध्यवर्ती/भ्रमजनित वास्तविकता है। सोशल मीडिया को इसी दृष्टि से देखें तो यह माया का आधुनिक रूप प्रतीत होता है। एक आभासी जगत जिसमें हम लिप्त रहते हैं, जो वास्तविक लगता है, पर जिसका अस्तित्व स्क्रीन की चमक और डिजिटल संकेतों से आगे नहीं। बिल्कुल माया की भाँति यह संसार आकर्षक है और मन को बांधे रखता है, पर यहाँ संबंध और पहचान क्षणभंगुर हैं: आज हज़ारों फॉलोअर्स, कल अकाउंट निलंबन के बाद शून्य। वेदांत नित्य-अनित्य का विवेक सिखाता है: आत्मा नित्य, बाकी सब अनित्य। अतः लाइक, कमेंट, ट्रेंड जैसी अनित्य चीज़ों के आधार पर अस्तित्व तय करना अविवेक होगा। जब यह विवेक जाग्रत होता है, तब ऑनलाइन प्रशंसा/आलोचना को "क्षणिक माया" समझकर

आत्म-छवि को उनके अनुसार घटाना-बढ़ाना कम हो जाता है।

बौद्ध दर्शन एक कदम और आगे बढ़कर कहता है कि स्थायी व्यक्तिगत आत्म सत्ता है ही नहीं यह **अनात्मवाद** है। बुद्ध के अनुसार "मैं" पाँच स्कंधों (रूप, भावना, संज्ञान, संस्कार, विज्ञान) का संघात है; कोई भी स्थायी नहीं। धम्मपद में घोषणा है: "सबे धम्मा अनत्ता" (धम्मपद, 279)। इसका तात्पर्य है कि किसी अनुभूत तत्व को "मैं/मेरा" मानना भ्रम है, क्योंकि सब परिवर्तनशील है। सोशल मीडिया पर निर्मित आत्म-छवि तो और भी क्षणभंगुर है। अपडेट, टिप्पणियाँ, बदलती रुचियाँ उसे निरंतर रूपांतरित करती रहती हैं। अतः उससे चिपकाव दुख का कारण बनता है। यदि किसी ने अपनी ऑनलाइन पहचान "हमेशा खुश", "आकर्षक" या "विद्रोही" छवि में बांध दी, तो उसे बनाए रखने का दबाव वास्तविक जीवन की स्वच्छंदता रोक सकता है। बौद्ध समाधान यह है कि स्वयं को क्षणिक धारणाओं से अलग पहचानना सीखे; यानी यूज़र अपने को पसंद, फॉलोअर्स या ऑनलाइन लोकमत से परिभाषित न करे। ये सब परिवर्तनशील "अनात्मा" हैं। जब यह दृष्टि आती है, तब पहचान-विघटन भी उतना व्यथित नहीं करता, क्योंकि समझ बनती है कि स्थायी पहचान थी ही नहीं जो बदल रहा है वह पहले से ही स्थायी नहीं था।

योग दर्शन (पतंजलि) भी आत्म-विक्षेप की समस्या को संबोधित करता है। योगसूत्र में कहा गया: "दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता" दृष्टा (शुद्ध चिति) और बुद्धि (दृश्य) के एकात्म होने का भ्रांत भाव ही अस्मिता है (पतंजलि, 2.6)। सोशल मीडिया पर हम अक्सर मान लेते हैं कि वही "मैं" हूँ जो प्रोफ़ाइल/पोस्ट में दिख रहा है। यह "दृग" का "दृश्य" से मिश्रण है। योग का लक्ष्य साक्षीभाव विकसित कर इस भ्रांति को हटाना है, जिससे व्यक्ति समझ सके कि वह विचारों, भावनाओं और ऑनलाइन अभिव्यक्तियों का साक्षी है। वे उसका पूर्ण स्वरूप नहीं।

भगवद्गीता का संदेश भी प्रासंगिक है: "श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्" (भागवद गीता, 3.35) अपना स्वभाव/धर्म भले अपूर्ण हो, परधर्म की नकल से बेहतर है। सोशल मीडिया पर लोग अक्सर "दूसरों का धर्म" अपनाते हैं। ट्रेंड, सेलिब्रिटी-नकल, उधार की छवि पर गीता चेतावनी देती है कि यह भय उत्पन्न कर सकता है। इसके विपरीत, स्वधर्म के अनुसार प्रामाणिक रहना अधिक संतोष और आंतरिक सुरक्षा देता है। संक्षेप में, भारतीय दर्शन कहता है कि आत्म की जड़ें प्रोफ़ाइल या छवि तक सीमित नहीं; आत्म-ज्ञान, विवेक और संतुलन ही आधुनिक "माया" के बीच व्यक्ति को स्थिरता प्रदान कर सकते हैं।

5. तुलनात्मक चर्चा : पश्चिमी और भारतीय दार्शनिक दृष्टिकोण, भले ही भौगोलिक-ऐतिहासिक रूप से भिन्न पृष्ठभूमि से आए हों, कई बिंदुओं पर सामंजस्य रखते हैं। दोनों ही परंपराओं ने मनुष्य की उस प्रवृत्ति की पहचान की है जिसमें वह **प्रतिबिंबों** और **बाह्य अनुमोदनों** में उलझकर अपने स्वत्व से दूर हो जाता है। पश्चिमी विचारक बौद्रियार के हाइपररीयल जगत और भारतीय मनीषी शंकराचार्य की माया – ये दोनो अवधारणाएँ मनुष्य को चेतावनी देती हैं कि इंद्रियों एवं माध्यमों द्वारा देखी जाने वाली दुनिया पूर्ण सत्य नहीं है। आज सोशल मीडिया पर प्रतिदिन जो सिमुलाक्रा (प्रतिरूप) हम बनाते और उपभोग करते हैं, वे अद्वैत वेदांत के दृष्टांत में मृगतृष्णा के समान हैं – दिखती हैं, लुभाती हैं, पर सारहीन हैं। इसी तरह, फूको का पैनऑप्टिकॉन हमें याद दिलाता है कि सामाजिक निगरानी कैसे आचार को नियंत्रित करती है, तो भारतीय योग-साहित्य बताता है कि बाहरी दृष्टि का भय मनोग्रंथि बनकर आत्मा को बांध सकता है, जिससे मुक्त होना योग का ध्येय है। दोनों ही सिखाते हैं कि व्यक्ति को अनुभवजन्य चेतना के पार जाकर अपने अस्तित्व की स्वतंत्रता को खोजना चाहिए – चाहे उसे पश्चिम में स्वायत्तता कहा जाए या पूर्व में मोक्ष।

एक रोचक समानता यह है कि जहां पश्चिमी विचारक पहचान के विघटन को

नकारात्मक परिघटना के रूप में चिन्हित करके चिंता जताते हैं, वहीं बौद्ध दर्शन पहचान के विघटन में एक सकारात्मक संभावना भी देखता है – यदि कोई समस्त भ्रमपूर्ण पहचानों को मिटा दे तो निर्वाण (पूर्ण शांति) संभव है। फर्क बस दृष्टिकोण का है: बौद्रियार कहते हैं कि आधुनिक संसार में असल और नक़ली का अंतर मिट गया है, यह एक समस्या है; बौद्ध कहते हैं कि कभी कोई स्थायी "असल" थी ही नहीं, यह समझ आ जाए तो समस्या मिट जाती है। फिर भी निष्कर्ष दोनों का मनोस्वास्थ्य के लिए मिलता-जुलता है – **आसक्ति से मुक्ति**। पश्चिमी मनोचिकित्सक भी अब डिजिटल डिटॉक्स और असली दुनियावी रिश्तों पर लौटने की सलाह देने लगे हैं, जो मूलतः अतिशयोक्त आभासी आसक्तियों से मुक्त होने की कवायद है। यह बुद्ध के उपदेश "उपादान" त्यागने के अनुरुप ही है।

भारतीय दर्शन एक कदम आगे बढ़कर समाधान के ठोस मार्ग सुझाता है – योग, ध्यान, आत्मचिंतन, भक्ति आदि द्वारा व्यक्ति अपने चित्त को स्थिर कर सकता है, अपनी पहचान को व्यापकतर सत्य से जोड़ सकता है। उधर पश्चिमी दार्शनिक विमर्श (विशेषकर उत्तर-आधुनिक) समस्या का विश्लेषण तो बारीकी से करता है किंतु समाधान के मामले में अक्सर खामोश या अस्पष्ट रहता है। उदाहरणतः, डिबोर्ड या बौद्रियार ने जो स्थिति वर्णित की, उससे निकलने का मार्ग उन्होंने स्पष्ट नहीं बताया; वे मात्र एक दर्पण की तरह समाज को उसकी छवि दिखाते हैं। इसके विपरीत, गीता या उपनिषद समाधान की राह दिखाते हैं – नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः (अस्थिर का अस्तित्व नहीं, सत्य का अभाव नहीं) कहकर गीता (2.16) निर्देश देती है कि असत्य (मिथ्या पहचान) को त्यागकर सत्य (आत्म) का आश्रय लो। यही वजह है कि आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी ध्यान, योग, माइंडफुलनेस आदि की ओर आकर्षित हो रहे हैं – क्योंकि पश्चिमी जीवन में बिगड़ती पहचान और बढ़ती व्यग्रता का उपचार इन्हीं प्राचीन विधियों में निहित है।

अवश्य, कुछ अंतर भी हैं। पश्चिमी चिंतन सामाजिक-राजनीतिक संदर्भ में व्यष्टि को देखते हैं – फूको के लिए शक्ति का प्रवाह महत्वपूर्ण है, बौद्रियार के लिए मीडिया और उपभोक्तावाद का ढांचा – वे आत्म को एक सामाजिक निर्माण मानते हैं जिस पर बाहरी शक्तियाँ खेल खेलती हैं। भारतीय चिंतन आत्म को आध्यात्मिक इकाई मानता है – समाज उसके ऊपर एक आवरण मात्र है। फिर भी, दोनों दृष्टिकोण इस बात पर सहमत हैं कि आम मनुष्य प्रायः उस आवरण को ही अपना सबकुछ मान बैठता है, और यही अज्ञान या भ्रम है। ऐसे में, आत्म-चेतना बढ़ाने की ज़रूरत दोनों ही परिप्रेक्ष्य में रेखांकित होती है – चाहे उसे "चैतन्यसाक्षात्कार" कहें या "आलोचनात्मक चेतना"।

6. निष्कर्ष :सोशल मीडिया और पहचान के विघटन की समस्या वर्तमान युग में मानव के सामने एक अभूतपूर्व चुनौति बनकर उभरी है। यह केवल एक तकनीकी या सामाजिक समस्या नहीं है, बल्कि गहराई में जाकर देखें तो यह आत्म की दार्शनिक समस्या है – मैं कौन हूँ का प्रश्न डिजिटल दौर में और भी पेचीदा हो गया है। इस शोध में पश्चिम और पूर्व के दार्शनिक दृष्टिकोणों के आलोक में हमने इस समस्या के विभिन्न आयामों को समझा। जां बौद्रियार के हाइपररीयल विश्व और मिशेल फूको के निगरानी समाज ने हमें आगाह किया कि यदि हम सजग न रहे तो आभासी छवियों और सामाजिक निगरानी के दबाव में हमारी मौलिक आत्म-चेतना क्षीण होती जाएगी। भारतीय उपनिषदों और बौद्ध दर्शन ने हमें यह याद दिलाया कि वास्तविक आत्म को खोया नहीं जा सकता – वह तो सदा हमारे अंतःस्थल में विद्यमान है, बस उसे आवृत करने वाले आवरण (माया/अज्ञान) हटाने की आवश्यकता है। सोशल मीडिया रूपी आवरण रंग-बिरंगा और मोहक है, पर उसकी चमक के पीछे छिपे अँधेरे को हमें पहचानना होगा।

यह अध्ययन शोधार्थियों और चिंतकों को आमंत्रित करता है कि वे आधुनिक डिजिटल संस्कृति की चुनौतियों का समाधान ढूँढने के लिए

अंतरअनुशासनिक दृष्टिकोण अपनाएँ। दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान और तकनीकी अध्ययन मिलकर ही मनुष्य को यह दिशा दिखा सकते हैं कि सोशल मीडिया का उपयोग आत्म-विकास के साधन की तरह किया जाए, न कि आत्म-विक्षेप के कारण की तरह। उदाहरणतः, यदि सोशल मीडिया को स्वयं की अभिव्यक्ति और सीमाहीन संवाद के माध्यम के रूप में संतुलित ढंग से अपनाया जाए, तथा यूज़र डिजिटल जगत की असारता को समझते हुए अपनी असली दुनिया व संबंधों में जड़ें जमाए रखें, तो पहचान का विघटन टाला जा सकता है। इसके लिए प्राचीन साधन – जैसे ध्यान द्वारा मानसिक संतुलन, गीता के निष्काम कर्मयोग द्वारा फल में आसक्ति से मुक्ति, बुद्ध के मध्य मार्ग द्वारा अत्यधिक आसक्ति/विरक्ति से बचाव – आश्चर्यजनक रूप से सार्थक साबित हो सकते हैं, भले ही संदर्भ नया हो।

संदर्भ सूची :

1. **Baudrillard, Jean.** Simulacra and Simulation. Translated by Sheila Faria Glaser, University of Michigan Press, 1994. (Original work published 1981).
2. **Bauman, Zygmunt.** Liquid Modernity. Polity Press, 2000.
3. **Bhagavad Gita.** Translated by S. Radhakrishnan, HarperCollins, 2014.
4. **Brihadaranyaka Upanishad.** The Principal Upanishads, translated by S. Radhakrishnan, HarperCollins, 1953.
5. **Castells, Manuel.** The Power of Identity. 2nd ed., Wiley-Blackwell, 2010.
6. **Chandogya Upanishad.** The Principal Upanishads, translated by S. Radhakrishnan, HarperCollins, 1953.
7. **Debord, Guy.** The Society of the Spectacle. Zone Books, 1994. (Original work published 1967).
8. **Dhammapada.** Translated by John Ross Carter and Mahinda Palihawadana, Oxford UP, 1987.
9. **Foucault, Michel.** Discipline and Punish: The Birth of the Prison. Translated by Alan Sheridan, Vintage Books, 1977.
10. **Gergen, Kenneth J.** The Saturated Self: Dilemmas of Identity in Contemporary Life. Basic Books, 1991.
11. **Goffman, Erving.** The Presentation of Self in Everyday Life. Doubleday Anchor, 1959.
12. **Mintz, Steven.** "Fact is a Matter of Perception." Inside Higher Ed, 7 Oct. 2024,https://www./opinion/columns/higher-ed-gamma/2024/10/07/fact-matter-perception.
13. **Patañjali.** The Yoga Sutras of Patanjali. Translated by Swami Satchidananda, Integral Yoga Publications, 1978.
14. **Turkle, Sherry.** Life on the Screen: Identity in the Age of the Internet. Simon & Schuster, 1995.

•